

स्कूलों में सजा गहरा होता है घाव¹

हर साल की तरह एक बार फिर स्कूल खुल गये हैं। बच्चे सुबह-सुबह अकेले या झुण्ड में स्कूल की घंटी का पीछा करने लगते हैं। पर यह 2010 का साल हर साल से अलग माना जाना चाहिये। भारत में शिक्षा का अधिकार कानून 2009 लागू होने के बाद शुरू होने वाला स्कूली शिक्षा का यह पहला सत्र रहा और इस कानून में प्रावधान है कि स्कूलों में बच्चों को किसी भी तरह की शारीरिक सजा, मानसिक प्रताड़ना या उपेक्षा का दण्ड नहीं दिया जाना चाहिये। इससे उनका व्यक्तित्व प्रभावित होता है, सीखने और गढ़ने की क्षमता कम होती है। सजा का यह स्वरूप बच्चों के आत्मसम्मान को सबसे ज्यादा ठेस पहुंचाता है। यह मसला भारत सरकार के महिला एवं बाल विकास मंत्रालय की रिपोर्ट के उस निष्कर्ष के संदर्भ में महत्वपूर्ण हो जाता है कि भारत में 65 प्रतिशत यानी लगभग 19 करोड़ बच्चे स्कूलों में सजा पाते हैं; दुनिया का सबसे बड़ा अपराधी वर्ग क्यों बना दिया है हमने बच्चों को?

एक नवम्बर 2009 को मध्यप्रदेश के सागर जिले के खजूरिया गांव की ग्यारह साल की प्रेमलता अपने शिक्षक रामसिंह अहिरवार के सवालों का सही जवाब नहीं दे पाई। इस अपराध के फलस्वरूप उसकी इतनी पिटाई की गई कि उसकी मृत्यु हो गई। छह साल का अनमोल कुशवाहा अंग्रेजी की वर्णमाला नहीं लिख पाया। उसकी इतनी पिटाई हुई कि उसका हाथ कोहनी से टूट गया। दिल्ली के नगरीय प्रशासन के स्कूल में पढ़ने वाली 11 साल की शन्नोखान को चिलचिलाती गर्मी में सूरज की रोशनी में दो घंटे तक खड़े रखा गया, पानी पीने की अनुमति भी नहीं मिली। अंततः वह ऐसे गिरी कि फिर उठ न सकी। दिल्ली के ही प्रीत विहार के एक स्कूल में आठवीं कक्षा के छात्र कन्हैया को शिक्षक ने डस्टर फेंककर मारा, जो उसकी पास बैठे दूसरे छात्र नितिन राय को जा लगा और उसे अपनी एक आंख खोना पड़ी।

ऐसे मामलों की कहानियां इतनी छोटी नहीं हैं, जितना छोटा करके हम यहां लिख रहे हैं। ये कहानियां मौजूदा स्कूली शिक्षा व्यवस्था में गहरे तक जड़े जमा कर बैठी उस मानसिकता को उजागर करने की कोशिश भर है, जिसमें यह माना जाता है कि बच्चों को दण्ड या सजा देकर ही अनुशासित बनाया जा सकता है या फिर वे तभी शिक्षित हो पायेंगे जब उन पर सजा का दबाव होगा। कलकत्ता के जाने-माने ला-मार्टिनीयर स्कूल के प्राचार्य ने कुछ छात्रों को बेंत से पीटा। बेंत की मार केवल शरीर पर नहीं बल्कि 13 साल के रोवनजीत रावला के मन पर इतनी गहरी पड़ी कि 12 फरवरी 2010 को उसने अपने घर में फांसी लगाकर खुदकुशी कर ली। अब इस मसले पर बहस निर्णायक दौर में पहुंच रही है और अब यह तय किया जाना है कि हमारी व्यवस्था में हमारे बच्चे हमसे कैसे संरक्षित हों!!

एक आधार

¹ यह दस्तावेज श्री सचिन जैन द्वारा विकास संवाद इन्फोपैक के तहत बनाया गया है /81

जाने माने शिक्षाविद अनिल सदगोपाल सजा की इस बहस को एक बिलकुल अलग नज़रिए से रखते हुए कहते हैं कि बच्चों को सजा दिए जाने का कारण है हमारी विकृत पाठ्यचर्या! जो हम बच्चों को पढ़ा रहे हैं या पढ़ाते रहे हैं वह बच्चों की उम्र, मनोवैज्ञानिक स्थिति और क्षमताओं से ज्यादा और विकृत है। बच्चे उस ज्ञान या सूचना में रूचि रखते हैं जो उनके परिवेश, आस पास के समाज-माहौल और जिन्दगी को सीधे छूती है। पर अब हम अपने स्कूलों में ऐसा कुछ पढ़ाते ही नहीं हैं, जिसे बच्चे अपने जीवन से जोड़ कर देख-समझ पायें। हमारे नीति बनाने वालों के पास यह स्पष्टता ही नहीं है कि वह बच्चों को क्या और क्यों बनाना चाहते हैं, वे बच्चों को यह स्वतंत्रता ही नहीं देते हैं कि बच्चे खुद सपने देख सकें। हमारी शिक्षा पद्धति प्रतिस्पर्धा और हिंसा सिखाती है, वह प्रेरित करती है कि बस किसी भी तरह से दूसरे बच्चे से आगे निकलना है। यदि दूसरे स्थान पर आये तो बस जिन्दगी बर्बाद हो जायेगी। माँ-बाप इस दौड़ को अपने इज्जत और अहं का सवाल बना लेते हैं। उनके महत्वाकांक्षा के युद्ध में बच्चे ही रणभूमि होते हैं, वही हथियार होते हैं और वही शिकार भी। उन पर हम जरूरत से ज्यादा वजन लादते हैं, अपनी उम्मीदों का बोझ उनके कंधों पर डालते हैं और चाहते हैं कि उसे वे पूरा करें।

हम बच्चों पर एक पाठ्यक्रम भी लादते हैं और उससे अपेक्षा कर रहे हैं कि वह उसे रटे और परीक्षा में उगल दें। हम उसे ज्ञान का परीक्षण ही नहीं करने देना चाहते, जो की किसी भी बच्चे की बुनियादी प्रवृत्ति होती है। और जब वह हमारे लादे हुए ज्ञान के नहीं निगल पाता है क्योंकि रटना या बिना परीक्षण स्वीकार कर लेना उसकी मूल प्रवृत्ति नहीं है। जब वह सवाल पूछता है तो हम गुस्सा होते हैं। बच्चे बहुत ही बुनियादी सवाल पूछते हैं, और याद रखिये की बुनियादी सवाल बहुत कठिन होते हैं। ऐसे में शिक्षक पहले उसके सवाल को नज़र अंदाज़ करता है, फिर गोल-मोल जवाब देता है, फिर समझाने की कोशिश करता है, यदि सवाल नहीं दबता, तब शिक्षक कुंठित होकर सजा का उपयोग करता है। यह व्यवहार हमारी आश्रम व्यवस्था से शुरू हुआ जब शिष्यों को वेद, पुराण, और ग्रन्थ रटवाने की पद्धति को अपनाया गया। जो रटने को तैयार ना हो उसे सजा दा। हमने बच्चों को ज्ञान देने की नहीं बल्कि ज्ञान अर्जित करने, सवाल पूछने और प्रयोग करने की प्रवृत्ति सौंपने की जरूरत है। शिक्षा के अधिकार के कानून से भी यह संकट कम नहीं होगा, आप ज्ञान का चरित्र, पक्षधरता और परीक्षण के मापदंड बदल दीजिये, बच्चे शिक्षा, शिक्षक और शिक्षण संस्थानों का सम्मान करने लगेंगे, तभी सजा की सोच भी बदलेगी। शिक्षक को इस मामले में अपराधी बनाने की कोशिश नहीं करना चाहिए। अपराधी तो यह समाज और राज्य है, जिसने शिक्षा व्यवस्था को ज्यादा से ज्यादा विकृत बनाने की हर संभव कोशिश की है, जैसे जैसे यह दबाव बढ़ेगा, वैसे-वैसे बच्चों पर हिंसा बढ़ेगी। शिक्षकों को कोई भी प्रशिक्षण देकर या सजा पर रोक लगाने वाले कोई भी नियम बच्चों के सजा से नहीं बचा पायेगा।

सोशल जूरिस्ट (नई दिल्ली) के कानूनी सलाहकार और वरिष्ठ वकील अशोक अग्रवाल मानते हैं कि 'स्कूल में तो 17 से 18 वर्ष की उम्र के बच्चे पढ़ते हैं, परन्तु शिक्षा के अधिकार केवल 6 से 14 वर्ष तक के बच्चों के लिए सजा से बचाव की बात करता है यानि पूरा स्कूल अभी संरक्षित नहीं है। यह मसला केवल शिक्षकों के व्यवहार तक सीमित करके नहीं देखा जाना चाहिए। मौजूदा शिक्षा पद्धति में उन्हें बच्चों को सजा देने के लिए मजबूर किया जाता है। दिक्कत यह भी है कि नीतियां और नियम केवल सजा देने के बाद कार्यवाही की प्रावधानों की बात कर रहे हैं जबकि इसे रोकने और सजा दिए जाने के बाद की स्थितियों पर भी सिस्टम बनाए जाने की जरूरत है। यह कानून बहुत प्रभावी नहीं होगा क्योंकि जिम्मेदार पर उनकी सेवा शर्तों के मुताबिक ही कार्यवाही होगी, जो वैसे भी बहुत कम है और प्रक्रिया भी छेदों से भरी हुई है।

दण्ड देने की परम्परा

बच्चों को शिक्षा व्यवस्था (शिक्षा संस्थानों) में दण्ड (कारपोरल पनिश्मेन्ट) देने की परम्परा कोई नया चलन नहीं है। भारतीय संदर्भ में गुरुकुल व्यवस्था के तहत भी अपना निर्धारित कार्य पूरा न करने वाले या अनुशासनहीनता करने वाले बच्चों को दण्ड दिया जाता रहा है, पर वहां सजा का मकसद रहा बच्चों को

ज्यादा रचनात्मक और जिम्मेदार बनाना न कि डर पैदा करना, पर सजा अंततः डर ही पैदा करती है। नालंदा विश्वविद्यालय के दस्तावेजों में इस बात का उल्लेख जरूर है कि शिक्षक को उन बच्चों पर ध्यान केन्द्रित करना चाहिये जिन्हें ज्यादा सहयोग की जरूरत है और फिर भी अगर जरूरत पड़े तो अनुशासन स्थापित करने के लिये ऐसे तरीके अपनाये जाने चाहिये जिनसे सीखने और जिम्मेदार बनने की प्रवृत्ति का विकास हो। यह एक सच्चाई है कि शिक्षा के सिद्धान्तों और तौर तरीको पर हमेशा बहस हुई है परन्तु पिछले दो दशकों में शिक्षा व्यवस्था में बच्चों को दिये जाने वाले दण्ड ने ऐसा चेहरा अख्तियार कर लिया है कि वह एक बड़ी चुनौती के रूप में सामने आ खड़ा हुआ है। ऐसा कुछ हुआ है कि ऐसी सजा या दण्ड देने वाले व्यवहार को बच्चों के साथ की जाने वाली हिंसा के रूप में परिभाषित किया जाने लगा है। और यह बहस अब बहुत गर्म है कि स्कूलों में बच्चों को आखिर किस अपराध के लिये सजा मिलनी चाहिये ? क्या किसी भी रूप में इन सजाओं को सैद्धान्तिक मान्यता मिलना चाहिये?

1866 में एक मामले में एक बच्चे को शिक्षक द्वारा 20 बार बेंत से मारा गया। उसके माता-पिता का मानना था कि यह शिक्षक का हिंसक कृत्य था, जिसकी कोई जरूरत नहीं थी। हालांकि यह मामला दबा दिया गया परन्तु यहीं से कारपोरल पनीश्मेन्ट के खिलाफ लोग खड़े होना शुरू हुये और बहस को मंच मिला। फिर 1868 में मेसा चुसेट्स के बेवरली शहर में कई बच्चों के माता-पिता ने एक जुट होकर स्कूलों में सजा पर प्रतिबंध लगाने की मांग की तब स्कूल प्रबंधन ने तर्क दिया कि ऐसे में बच्चे अनुशासनहीन हो जायेंगे। केवल अमेरिका में हर साल दो लाख बच्चों को स्कूल में गंभीर सजा दी जाती है। पश्चिम में केवल अमेरिका ऐसा देश है जहां के 21 राज्यों में बच्चों को अनुशासित बनाने के लिये सजा को कानूनी दर्जा मिला हुआ है।

भारत में बच्चों को दण्ड

- भारत में बच्चों को दण्ड देने के 55 तरीके अपनाये जाते रहे हैं, जिनमें बेंत या खड़े स्केल से मारना, घुटनों के बल बैठना, कान मरोड़ना से लेकर जातिगत व्यवहार, लगातार उपेक्षा करना शामिल है।
- भारत में 65 प्रतिशत बच्चे स्कूलों में सजा पाते हैं।
- हमारे यहां स्कूलों में ऐसी कोई व्यवस्था नहीं है जहां इस तरह के मामलों को दर्ज किया जा सके।
- भारतीय दण्ड संहिता भी बच्चों की स्कूलों में होने वाली पिटाई या उपेक्षा को उनके हित में किया गया व्यवहार मानती है।
- चूंकि भारत में 53 प्रतिशत से ज्यादा शिक्षक प्रशिक्षित नहीं हैं इसलिये बच्चों को जवाब देने या उनसे संवाद करने के बजाये उन्हें पीटकर अनुशासन में रहना सिखाना बेहतर समझते हैं।
- पाठ्यक्रम और अच्छे प्रदर्शन के दबाव में सजा का उपयोग ज्यादा बढ़ रहा है।
- बच्चों को सजा देने से उनमें भय, ईर्ष्या

और क्रोध के तत्व ज्यादा प्रभावी होने लगते हैं।

फिर 1879 में कैम्ब्रिज के स्कूलों ने इसे प्रतिबंधित करने की असफल कोशिश की और 1880 में एक अध्ययन में पाया कि ग्रामर स्कूल के 12973 बच्चों में से 10973 को सजा मिली।

स्वीडन यूरोप का पहला ऐसा देश बना जिसने शिक्षा में दण्ड की व्यवस्था को 19वीं शताब्दी के शुरू में ही खत्म करने का निर्णय लिया और लागू कर दिखाया। सन् 1870 में न्यूयार्क राज्य के शिक्षा मण्डल ने वहां के स्कूलों में इस प्रथा को बंद करने की प्रक्रिया शुरू की और 1877 में उसे खत्म कर दिया। 19 वीं शताब्दी में दुनिया में ज्यादातर देश उपनिवेशवाद और नस्लवाद का सामना कर रहे थे तो स्कूलों में भी सजा पर इसका असर साफ था। इसी सदी में बांस का उपयोग सजा के लिये किया जाता था। 20वीं सदी में लकड़ी के केन का उपयोग शुरू हुआ। स्काटलैण्ड के स्कूलों में चमड़े के बेल्ट का उपयोग सजा देने में किया जाता रहा। इस्लामिक और ईसाई समुदाय के धार्मिक संदर्भों में यह कहा जाता है कि बच्चों को सजा देना अनिर्वायता है परन्तु वर्ष 2006 में क्योटो (जापान) में हुये विश्व धार्मिक सभा में इकट्ठा हुये 800 धर्म गुरुओं ने स्कूलों में सजा सहित बच्चों के खिलाफ होने वाली हर हिंसा को रोकने के लिये कड़े कदम उठाने का आहवान किया।

क्या है शिक्षा संस्थानों में दण्ड के मायने?

बच्चों को दण्ड देने की बात से हर वह व्यवहार जुड़ा हुआ है जिसमें उन पर शारीरिक बल प्रयोग किया जाता है, जिसके आघात से उन्हें दर्द या बैचेनी का बोध होता है। स्वाभाविक है कि पिटाई, बेंत से मारना, धक्का देना या मुर्गा बनाना, खड़े रहने के निर्देश देना इसमें शामिल हैं। इतना ही नहीं सजा की इस परिभाषा में मानसिकता और भावनात्मक, खड़े रहने के निर्देश देना इसमें शामिल हैं इतना ही नहीं सजा की इस परिभाषा में मानसिक और भावनात्मक दुर्व्यवहार भी शामिल है यानी मजाक उड़ाना, जातिगत भेद-भाव, ताना मारना, अपेक्षित व्यवहार करना। कुछ भी हो सजा बच्चे के मन में बहुत गहरे तक उतर जाती है।

व्यापक मान्यता के तहत यह माना जाता है कि स्कूल में निर्धारित दायित्व को पूरा न करने, तय नियमों का पालन न करने, अनुशासन की व्यवस्था को तोड़ने वाले व्यवहार को बच्चों का अपराध माना जाता है। और इस अपराध की सजा के रूप में बच्चों को दण्डित किया जाता है। स्वाभाविक सा सवाल यह उठता है कि ऐसी अनुशासनात्मक व्यवस्थाएँ बनाता कौन है, क्या उन्हें बनाने में उन बच्चों की कोई भागीदारी होती है, जिनसे अनुशासित रहने की अपेक्षा की जाती है। अक्सर यह बात सामने आ रही है कि जब बच्चे शिक्षक के सवालों के सही जवाब नहीं दे पाते हैं या अपना गृह कार्य नहीं कर पाते हैं तो उन्हें सजा मिलना तय होता है।

इस बात में कोई विवाद नहीं हो सकता है कि बच्चों की बेहतरी के लिये अनुशासन और जिम्मेदारी के सबक सिखाये जायें परन्तु यदि बच्चे सही जवाब नहीं दे पाते हैं तब क्या शिक्षक और शिक्षा संस्थानों को अपने पढ़ाने के तौर-तरीकों को ज्यादा समावेशी बनाने के नजरिये से समीक्षा नहीं करना चाहिये। देखिये मसला केवल इतना सा नहीं है कि बच्चों को इन दो कारणों से ही दण्ड मिलता है! मसला इससे कहीं ज्यादा है। यह सही है कि स्कूली शिक्षा संस्थानों में बच्चों को सजा देना वहां की व्यवस्था का एक अभिन्न हिस्सा बन गया है। इस शिक्षा व्यवस्था में शिक्षक या संचालन की भूमिका निभाने वाला वर्ग यह मानता है कि बच्चों को शिक्षित बनाने, उन्हें भटकने से रोकने और उनके सीखने की क्षमता को बढ़ाने के लिये समाज एक अनिवार्य माध्यम है। यह वर्ग इस वैज्ञानिक तथ्य में विश्वास नहीं करता है कि किसी भी तरह की सजा बच्चों के मन और मनः स्थिति पर गहरा नकारात्मक प्रभाव डालती है। वे अंततः इसे अपने ऊपर होने वाली हिंसा के रूप में ही देखते हैं।

प्रेमलता और अनमोल अगर अक्षर नहीं सीख पा रहे थे तो क्या यह उनकी गलती थी या गलती पर शिक्षा व्यवस्था है जो उन तकनीकों का उपयोग नहीं कर रही है जिनसे सीखना और समझ बनाना आसान है। हमें यह मानना सीखना होगा कि बच्चों का मनोविज्ञान संवेदनशीलता का मनोविज्ञान होता है। हर बच्चे का जीवन एक स्वतंत्र चरित्र लिये हुये होता है और जिज्ञासा उसका सबसे अहम् गुण है वह वयस्क विद्वानों या नीति बनाने वालों या उनके विचारों को नहीं पहचानता है। वह अपना खुद का नजरिया बनाना चाहता है। वह सुनता जरूर है, सीखता जरूर है, पढ़ता जरूर है जो हम उससे अपेक्षा करते भी हैं; परन्तु जब हम यह अपेक्षा करने लगते हैं कि वह गढ़े (रचे) भी वही जो हम चाहते हैं तब हम उसके खिलाफ हिंसक होना शुरू हो जाते हैं।

वर्तमान शिक्षा व्यवस्था में किताबों के बोझ से बच्चों को मजबूर किया जा रहा है कि वह खुद रचनाकार न बनने पायें। यह व्यवस्था चाहती है कि जो किताबों में लिखा है वह वैसा-का-वैसा अपने मन पर छाप लें। बोझ बढ़ रहा है पर बच्चों की क्षमतायें इतनी नहीं हैं, शिक्षक पर दबाव है कि वह अपना संख्यात्मक लक्ष्य पूरा करें और जब ये मनोविज्ञान आपस में टकराते हैं तो शिक्षक सजा को सबसे बेहतर उपचार मानते हैं। तब बच्चा निरीह होता है, वह केवल सजा ग्रहण कर सकता है और अपने मन पर समाज की एक छाप लेकर आगे बढ़ जाता है। वर्तमान शिक्षा व्यवस्था में किताबों के बोझ से बच्चों को मजबूर किया जा रहा है कि वह खुद रचनाकार न बनने पायें। यह व्यवस्था चाहती है कि जो किताबों में लिखा है वह वैसा-का-वैसा अपने मन पर छाप लें। बोझ बढ़ रहा है पर बच्चों की क्षमतायें इतनी नहीं हैं, शिक्षक पर दबाव है कि वह अपना संख्यात्मक लक्ष्य पूरा करें और जब ये मनोविज्ञान आपस में टकराते हैं तो शिक्षक सजा को सबसे बेहतर उपचार मानते हैं।

ऐजूकेशनल रिसर्च सेंटर ने 13 साल तक चले राष्ट्रव्यापी अध्ययन से पाया कि

- सजा पाने के बाद 30 फीसदी बच्चे अपने शिक्षक को नापसंद करने लगे।
- 20 प्रतिशत बच्चों को सदमा लगा और वे बीमार पड़े।
- 50 प्रतिशत पिता और 70 प्रतिशत मातायें बच्चों को दी जाने वाली सजा को अस्वीकार करती हैं।

सजा भांति-भांति की!

- बालाघाट के कोडवी के प्राथमिक स्कूल के 143 बच्चों की जिम्मेदारी तय की गई कि वे स्कूल और शौचालय की हर रोज सफाई करेंगे। नियमानुसार स्कूल में बच्चे शिक्षा गतिविधियों के अलावा अन्य कार्यों में नहीं जुटाये जाना चाहिये। बच्चे तैयार न थे तो सबको दण्ड बैठक की सजा दी गई - **दबाव**
- देवास की सोनकच्छ तहसील के बच्चों ने राष्ट्रीय बाल अधिकार संरक्षण आयोग की जनसुनवाई में कहा कि दलित होने के कारण उनकी कापी नहीं जांची जाती है, पीछे बिठाया जाता है, अपशब्द कहे जाते हैं और मध्याह्न भोजन में रोटी थाली के ऊपर लाकर पटकी जाती है, - **जातिगत सजा और असुरक्षा।**
- बेगमगंज के सेंट थामस स्कूल की केजी-1 की छात्रा अंजान अको स्कूल प्रशासन ने स्कूल की छुट्टी के बाद दो घंटे तक इसलिये बंदी बनाकर रखा क्योंकि उसने स्कूल द्वारा बच्चों के लिये खरीदे गये बस्ते के लिए 100 रुपये जमा नहीं किये थे। जब रिक्शा वाला अंजान को लेने पहुंचा तो उसे यह कहकर लौटा दिया गया कि वह जाकर उसके पिता को 100 रुपये जमा करने को कहे। बाद में पता चला कि यह राशि पहले ही जमा की जा चुकी थी, - **मानसिक**

क्या होते हैं इस सजा के परिणाम?

बोधी आर्गनाइजेशनल एण्ड पीपुल डेवलपमेंट कंसल्टेंट्स के निदेशक डॉ. एन. राज मोहन कहते हैं कि बच्चों को सजा देने के तीन परिणाम होते हैं – भय, ईर्ष्या और क्रोध। बच्चे चूंकि तत्काल प्रतिक्रिया व्यक्त नहीं कर पाते हैं इसलिये ये तीनों स्थितियां या इनमें से कोई एक उनके मन में बैठ जाती है और धीरे-धीरे बच्चों के व्यवहार को आकार देती रहती है। जब किसी बच्चे को कक्षा में बात करने के जुर्म में शिक्षक कठोर दण्ड दे देते हैं तो बहुत संभावना होती है कि वह बच्चा बोलना कम कर दे या अर्न्तर्मुखी होने लगे। यदि ईर्ष्या का भाव पैदा हुआ तो वह शिक्षक, स्कूल या फिर समाज के प्रति ईर्ष्या रखने लगता है। इसके कारण से उसके मन में संवेदनशीलता कम होने लगती

है। और यदि क्रोध अपना स्थान उसके मन में अपना स्थान बनाता है तो बच्चे के चरित्र का अहम् समाज में एक व्यक्ति और देश के एक नागरिक के ढांचे का निर्माण होता है। इंडिया अलायंस फार चाईल्ड राईट्स की संयोजक रजिया इस्माईल अब्बासी मानती हैं कि बच्चों के मनोविज्ञान और उनकी उम्र-स्थितियों को समझने की जरूरत इस समाज को है तभी हम उनके साथ संवाद कर सकते हैं। अपनी अपेक्षाओं को उन पर लादकर हम उनसे उनकी जिन्दगी की मौलिकता छीन रहे हैं। यह सही है कि उनके हितों बारे में निर्णय लेना हमारी जवाबदारी है पर यह बच्चों का हक है कि उनकी बात को सुना, समझा और लागू किया जाये।

भारत में स्कूली बच्चों को सजा की स्थिति

यह मसला छोटा सा नहीं है। भारत सरकार के महिला और बाल विकास मंत्रालय द्वारा किये गये अध्ययन की रिपोर्ट चाईल्ड एब्यूज इन इण्डिया के मुताबिक स्कूलों में पढ़ने वाले सभी आयु वर्गों में 65.01 प्रतिशत यानी हर तीन में से दो बच्चे स्कूल में दण्ड के शिकार होते हैं। मतलब साफ है कि लगभग 21 करोड़ बच्चे ऐसे अपराधों की सजा भोगते हैं, जो वास्तव में हमारी यानी वयस्कों की मानसिकता की उपज हैं। जो बच्चे स्कूलों में सजा भोगते हैं उनमें 54.28 प्रतिशत लड़के और 45.72 प्रतिशत लड़कियां हैं। इसका मतलब यह है कि समाजिक ढांचे में लिंगभेद की प्रताड़ना से जूझकर जब वे किसी तरह अपनी जिन्दगी को बदलने के लिये स्कूल पहुंचती हैं तो वहां भी उन्हें गैर-संरक्षणवादी व्यवहार का सामना करना पड़ता है। सरकार की इसी रिपोर्ट के मुताबिक मध्यप्रदेश में 48.73 प्रतिशत, गुजरात में 48.97 प्रतिशत, आंध्रप्रदेश में 53.03 प्रतिशत, केरल में 57.58 प्रतिशत और राजस्थान में 17.87 प्रतिशत बच्चे “सजायापत्ता” सजा के शिकार हैं ज्यादातर बच्चे (72.97 प्रतिशत) 14 वर्ष से कम उम्र के होते हैं परन्तु मध्यप्रदेश (40.63 प्रतिशत), आसाम (49.12 प्रतिशत) ऐसे राज्य हैं जहां 15 से 18 वर्ष की उम्र के बच्चे ज्यादा सजा पा रहे हैं।

आपको यह जानकार चौकना चाहिये कि दिल्ली में सजा पाने वाले 67.42 प्रतिशत, आंध्रप्रदेश में 55.24 प्रतिशत, गोवा में 57.33 प्रतिशत, केरल में 52.63 प्रतिशत बच्चे 12 साल से कम उम्र के होते हैं। जरा कल्पना कीजिये कि इन बच्चों को सजा देकर हमारी शिक्षा व्यवस्था किस तरह की जिंदगी के सिद्धान्त सिखाना चाहती है। सरकार का यह शोध बताता है कि सजा के 53.77 प्रतिशत मामले सरकार स्कूलों में दर्ज हुये जबकि मध्यप्रदेश में 51 प्रतिशत, गोवा में 78.7 प्रतिशत, बिहार में 45.1 प्रतिशत मामले पब्लिक में दर्ज हुये। हमारे समाज में बच्चों को सजा देने की एक सामाजिक मान्यता सी है, शायद इसीलिये कोई

संज्ञास /

- इटारसी के अयोध्यानगर केन्द्रीय विद्यालय की नवीं कक्षा की छात्रा पर गणित का पर्चा करते समय नकल का आरोप शिक्षक ने लगाया, उसकी कापी छीनी और स्कूल से बाहर निकाल दिया। पूजा स्कूल से निकली पर घर नहीं पहुंची। पुलिस ने भी इस मामले में प्रथम सूचना रिपोर्ट दर्ज नहीं की बल्कि गुमशुदगी की एक शिकायत ले ली – **अपमान /**
- खण्डागिरी के एक स्कूल में पढ़ने वाला कोस्तुब कानूनगो, माता-पिता में अलगाव के बाद अपनी मां के साथ रहता था। स्कूल द्वारा आयोजित की गई पिकनिक के दौरान वह अपने पिता से मिलना चाहता था परन्तु प्राचार्य ने इस पर कड़ा रुख अपनाया और सार्वजनिक रूप से उसे सजा दे दी – **भावनात्मक सजा /**
- 27 नवम्बर 2008 को कलकत्ता के मोमीनपुर विद्याभारती स्कूल के 8 साल के छात्र इफतेशाम चौधरी को उसकी शिक्षिका अनीता दास ने एक थप्पड़ जोर से मारा, उसका सिर दीवार से टकराया, खून का अंदरूनी बहाव बढ़ा और उसकी मृत्यु हो गई – **हिंसा /**

सामाजिक दबाव सरकार पर नहीं बनता दीखता है। राष्ट्रीय बाल अधिकार संरक्षण आयोग के पहले निर्देश के बाद पश्चिम बंगाल में 11, दिल्ली में 8, मुम्बई में 17, गुजरात में 8, राजस्थान में 6 और मध्यप्रदेश में 21 बच्चों की मृत्यु हुई है परन्तु एक प्रतिबद्ध पहल का अब भी इंतजार है।

दुनिया में किसी और अपराध के लिये इतने अपराधियों को सजा नहीं मिली है, फिर क्यों हमने अपने बच्चों के प्रति इस तरह के सैद्धान्तिक व्यवहार को मान्यता दी; इस पर बहस भी खूब है। मध्यप्रदेश में मुहावरा चलता है – गुरुजी मारे धम-धम, विद्या आये छम-छम, कहावत यह भी है कि दण्डनम दस गुण भवेथ; परन्तु क्या इसके प्रभाव से हम पूरी तरह से वाकिफ हैं ?

क्या कहते हैं नीतियां और कानून?

भारत ने *संयुक्त राष्ट्र के बाल अधिकार समझौते* को 1992 में लागू किया था। इस समझौते के अनुच्छेद 39 के मुताबिक किसी भी बच्चे को प्रताड़ित नहीं किया जा सकता है न ही उसके साथ अमानवीय, कठोर या दोगम दर्ज का व्यवहार किया जाना चाहिये, न सजा दी जाना चाहिये। यह सरकार की जिम्मेदारी है कि वह बच्चों को ऐसे व्यवहार से बचाने के लिये कानूनी, प्रशासकीय, सामाजिक और शैक्षणिक व्यवस्थायें खड़ी करे, जिसमें उसे शारीरिक, मानसिक, भावनात्मक, दुर्व्यवहार शोषण और उपेक्षा से संरक्षण मिल सके। हमें इस बात को भी महसूस करना होगा कि बच्चों को किस आधार पर, कब और किन परिस्थितियों में कक्षा की सबसे पिछली मेज पर बिठाया जायेगा, इस पर भी सजग होने की जरूरत है। बहुत सामान्य अनुभव है कि वंचित तबकों, मुस्लिमों, दलित या गांवों से शहर आकर पढ़ने वाले बच्चों को निचला दर्जा दिया जाता है। जो ऊंचे सामाजिक तबकों से आते हैं, चूंकि उन्हें सीखने के ज्यादा अवसर मिलते हैं इसलिये उन्हें स्कूल में "होशियार" का दर्जा मिल जाता है और वे अगली पंक्ति में बैठने के हकदार हो जाते हैं। सवाल यह है कि इस व्यवहार से हम "सक्षमता-असक्षमता" का भेदभाव स्थापित नहीं कर रहे हैं क्या? भारत में दिल्ली में वर्ष 2000 में आंध्रप्रदेश में सन् 2007 में 'कारपोरल परिश्मेन्ट' को राज्य सरकारों ने प्रतिबंधित कर दिया। मध्यप्रदेश, उड़ीसा और पश्चिम बंगाल में भी ऐसे ही कदम उठाये गये पर जमीनी सच्चाई यह है कि इस रोक को कानूनी ढंग से लागू नहीं कराया जा सका।

बच्चों को राष्ट्रीय चार्टर (2003) के मुताबिक राज्य को यह सुनिश्चित करना चाहिये कि विद्यालय के अनुशासन व संबंधित अन्य मुद्दों का परिणाम बच्चों को शारीरिक, मानसिक और मनोवैज्ञानिक क्षति न पहुंचाये। जबकि भारत का संविधान कहता है कि बच्चों को स्वस्थ तरीके से, स्वतंत्र और सम्मानजनक वातावरण में विकसित होने के अवसर व सुविधायें दी जाना चाहिये। हमारी *शिक्षा नीति* बच्चों की स्कूल में उपस्थिति एवं सीखने के लिये अच्छा-समावेशी उत्साहजनक वातावरण बनाने की पैरवी करती है। परन्तु अनुभव बताते हैं कि वयस्क केन्द्रित व्यवस्था और बच्चों के बीच एक अदृश्य टकराव पनप रहा है। हमारी कानून व्यवस्था बच्चों के हितों को बच्चों के नजरिये से देखने की कोशिश ही नहीं करती है। *भारतीय दण्ड संहिता* की धारा-323, (यही धारा बच्चों को स्कूल में सजा के मामलों में लगाई जाती है) मानती है कि शरीर या दिमाग पर पहुंची चोट अपराध है। परन्तु बच्चों के मामले में बच्चों को पहुंचाई गई चोट को अपराध की श्रेणी में रखा ही नहीं जाता है। इसी कानून की धारा-88 और 89 ऐसे व्यक्ति को बच्चों को चोट पहुंचाने के लिये छूट प्रदान करता है यदि वह "बच्चे की भलाई और बेहतरी" के लिये पहुंचाई गई हो या उसका भाव ऐसा हो। यानी हमारा कानून बच्चों के अधिकारों को ऐसे परिभाषित करता है जिसमें बिना अपराध के पाई गई सजा को न्याय माना जा रहा है। यही विरोधाभास हमारी शिक्षा व्यवस्था में बच्चों को दी जाने वाली सजाओं पर एक रचनात्मक माहौल बनने नहीं दे रहा है। हमें मानना चाहिये कि यह मामला महज नीतियों या कानून के जोर से किनारे लगने वाला नहीं है। सजा देना एक किस्म की मानसिकता है और इस मानसिकता को बदलने के लिये हमें अपनी शिक्षा व्यवस्था में उन तरीकों को लागू करना होगा, जिनमें अनुशासन और जिम्मेदार होने का पाठ सिखाने के लिये बच्चों को बेंत से मुलाकात न करना पड़े। मसला शिक्षकों की सीमाओं और क्षमता के दायरे को समझने का भी है। जब बच्चे सवाल पूछते हैं तो

जवाब देने के बजाये शिक्षक उन पर झल्ला जाते हैं और कठोर व्यवहार कर देते हैं। इस तरह का व्यवहार उनके सवाल पूछने की प्रवृत्ति को दबा देता है और रचनात्मकता को सीमित करता है।

इस मसले पर शिक्षकों के साथ खुले संवाद की एक श्रृंखला से उभरकर आया कि शारीरिक दण्ड या हिंसक व्यवहार आवश्यक नहीं है पर अनुशासन बनाये रखने के लिये बच्चों में किसी न किसी बात का थोड़ा भय बनाकर रखना जरूरी है पर इसका मतलब क्रूरतापूर्ण शारीरिक दण्ड बिल्कुल नहीं है। शिक्षक भी यह महसूस कर रहे हैं कि उनके दण्डात्मक व्यवहार से बच्चे अपमानित महसूस करते हैं और उनमें हिंसा की भावना बढ़ रही है। भारत में शिक्षा और शिक्षण के ऐसे कई प्रयोग हुये हैं और तकनीकों विकसित हुई हैं जो सहज और सरल तरीकों से बच्चों को सीखने में मदद करती है। लेकिन चूंकि भारत के 52 प्रतिशत शिक्षकों का प्रशिक्षण नहीं हुआ है। इस तरह की तकनीकों को प्रशिक्षण के लिये एक सुव्यवस्थित पाठ्यक्रम की जरूरत है। आज की शिक्षा का सिद्धान्त परिणाम केन्द्रित है और परिणाम भी वह जो नीति निर्धारक तय करें। अच्छे अंक और ऊंचा स्थान लाने का दबाव बच्चों पर अपने माता-पिता और शिक्षकों दोनों की तरफ से होता है। ऐसे में पाठ्यक्रम के भारी-भरकम और मुश्किल होने के कारण बच्चे उस तरह का प्रदर्शन नहीं कर पाते हैं जिस तरह की उनसे अपेक्षा की जाती है। शिक्षक पर कोर्स पूरा करने का दबाव होता है और यह दबाव उन्हें ऐसे विकल्प अपनाने के लिये मजबूर कर देता है जिनसे बच्चों तक यह दबाव प्रवाहित हो और तब सजा की परिस्थितियां बनती है।

यह भी सही है कि आज भी शिक्षकों पर शिक्षण के अलावा 20 और तरह की जिम्मेदारियां निभाने की मजबूरी है। फिर अब चूंकि शिक्षक के काम को बच्चों के प्रदर्शन के साथ जोड़कर देखें जाने की नीति लागू है, सो वहां ऐसी पद्धतियों के उपयोग की संभावनायें खत्म हो जाती हैं जिनसे 'सजा की जरूरत' वाला वातावरण बदला जा सकता है। आश्चर्यजनक बात यह भी है कि माता-पिता शिक्षकों से बच्चे को दण्ड देने की अपेक्षा रखते हैं। हम इस सच्चाई से बचकर आगे नहीं बढ़ सकते हैं कि शिक्षा व्यवस्था के ढांचे में बुनियादी बदलाव किये बिना इस सवाल को हल किया जा सकता है। इस तरह की मौतों को संज्ञान में लेते हुये कलकत्ता उच्च न्यायालय की डिवीजन बेंच, जिसकी अध्यक्षता न्यायमूर्ति ए.के. माथुर का रहे थे, ने बच्चों को दण्ड दिये जाने को गैर-कानूनी करार दिया और सरकार को दिशा-निर्देश जारी करने को कहा। उसने कहा कि बच्चों को प्रताड़ित करने वाले शिक्षकों को खिलाफ कड़ी कार्रवाई की जायेगी। लेकिन व्यवस्था न बदली क्योंकि बिना नजरिया बदले व्यवस्था थोड़े बदलने वाली है।

राष्ट्रीय बाल अधिकार संरक्षण आयोग ने वर्ष 2007 में देश की सभी राज्य सरकारों को निर्देश दिये थे कि स्कूलों में बच्चों को दण्ड देने की प्रवृत्ति पर रोक लगाने की व्यवस्था की जाये, शिकायतें दर्ज करने की व्यवस्था बनाई जाये, शिक्षकों को प्रशिक्षित किया जाये और माहौल को सजा मुक्त बनाया जाये। इस निर्देश के बाद भी मध्यप्रदेश में एक भी केस दर्ज न हो सकता क्योंकि कोई व्यवस्था ही नहीं बनाई गई। इतना ही नहीं जिला शिक्षा अधिकारियों और प्राचार्यों का एक भी प्रशिक्षण इस गंभीर मसले पर नहीं किया गया। स्वाभाविक है नीति तो बनी ही नहीं है।

अब तो **मुफ्त एवं अनिवार्य शिक्षा के कानून 2009** के अनुभाग 17 में बच्चों को शारीरिक दण्ड और मानसिक उत्पीड़न पर पूरी तरह से रोक लगाने की व्यवस्था है। यह कानून लागू हो चुका है पर जिस बिन्दु पर अब तक कोई पहल नहीं है वह है बच्चों को दण्ड पर रोक।

क्या हैं रास्ते?

राष्ट्रीय बाल अधिकार संरक्षण आयोग की अध्यक्ष शांता सिन्हा कहती हैं कि जरूरत इस बात की है कि केवल शिक्षक ही नहीं बल्कि समाज और परिवार को भी "सजा की मानसिकता" को बदलने की पहल करना होगी। स्कूलों के स्तर पर शिक्षकों और बच्चों के बीच संवाद की तकनीकों और काउंसिलिंग (परामर्श) का एक तंत्र खड़ा किया जाना चाहिये। वे मानती हैं कि समाज मुक्त शिक्षा बच्चों का मौलिक अधिकार है।

इस पर मसझौता नहीं किया जा सकता है इसीलिये राष्ट्रीय बाल अधिकार अधिनियम के तहत ठोस दिशा-निर्देशों के निर्माण पर काम कर रहा है, जिन्हें लागू करना हर स्कूल और हर राज्य की जिम्मेदारी होगी।

व्हाय स्पीकिंग डजंट वर्क? के लेखक और मनोवैज्ञानिक माईकल जे. मार्शल के मुताबिक बच्चों को शिक्षा व्यवस्था में अनुशासन और बेहतरी के नाम पर दी जाने वाली सजा उनमें शारीरिक-मानसिक विकास को अवरुद्ध करती है कि बच्चों को किसी भी तरह का दण्ड दिया जाना अस्वीकार्य है। उनके साथ स्कूल और घर में हमेशा सम्मानजनक व्यवहार होना चाहिये। इससे उनके सीखने की क्षमतायें बाधित होती हैं और वे मानसिक अवसाद और तनाव के शिकार होने लगते हैं। यह तनाव उन्हें दूसरी बुरी आदतों की तरफ लेकर जाता है। हमें यह मानना होगा कि दिमाग के विकास की सबसे तेज गति बचपन के इसी दौर में होती है। दिमाग के संवेदनशील होने के कारण यह जरूरी है कि उस पर कोई नकारात्मक छाप न पड़े। पहले पांच से छह वर्ष की उम्र में बच्चे स्कूल जाना शुरू करते थे परन्तु अब 3 वर्ष की उम्र में स्कूल पूर्व शिक्षा में जाना अनिवार्यता सी हो गई है। शिक्षा व्यवस्था पर यशपाल कमेटी ने अपनी रिपोर्ट लर्निंग विदाउट बर्डन में कहा है कि स्कूल पूर्ण शिक्षा और प्राथमिक शिक्षा में क्षमता विकास के नाम पर चित्रकला, लेखन और सवाल-जवाब की प्रतियोगिताओं/स्मरणशक्ति प्रतियोगिता के कारण बच्चों पर दबाव और अवसाद बहुत बढ़ रहा है। प्रदर्शन का यह दबाव बच्चों के आत्मविश्वास को गहरे तक प्रभावित करता है और परिवार के भीतर भी उन पर दबाव होता है जिससे उनका पूरा विकास प्रभावित हो सकता है? अब हमारे लिये सवाल यह है कि बच्चों के साथ जिस तरह का व्यवहार आज हो रहा है क्या हम उसकी तुलना गुरुकुल की शिक्षा व्यवस्था या पहले की किसी भी पारम्परिक व्यवस्था से कर सकते हैं? अनुशासनात्मक कार्रवाही और अपराध की सजा में हमें अंतर करना होगा। बच्चों की मानसिकता को समझे बिना उन्हें सजा देकर हम शिक्षित व्यक्ति हासिल नहीं कर सकते हैं। यह सोच इस बात का प्रमाण है कि हम बच्चों के मनोविज्ञान और जरूरतों को महसूस ही नहीं कर पा रहे हैं।

यह सही है कि अब शिक्षकों और शिक्षण संस्थानों पर अपने तौर-तरीके बदलने का दबाव बढ़ रहा है। परन्तु इस दबाव से उनकी सजा देनेवाली मानसिकता बदलने के बजाये सजा देने के तौर तरीके बदल रहे हैं। मध्यप्रदेश की राजधानी भोपाल में अप्रैल-मई 2010 के दौरान दो जाने-माने निजी स्कूलों ने 150 छात्रों को स्कूल से इसलिये निकाल दिया क्योंकि वे एक या दो विषयों में परीक्षा उत्तीर्ण नहीं कर पा रहे थे। स्कूल प्रबंधन का तर्क था कि इससे बच्चों के फेल होने से उसके संस्थान की प्रतिष्ठा खराब होती है। यह एक हास्यास्पद तर्क है कि बच्चे यदि फेल हुये तो इसको जिम्मेदारी स्कूल प्रबंधन और शिक्षण व्यवस्था की बनती है न कि बच्चों की। परन्तु सबसे आसान है बच्चों को सजा दे देना, सो उन्हें स्कूल निकाला दे दिया जाता है। जरूरत इस बात की है कि बच्चों को जिम्मेदार और अनुशासित बनाने के रचनात्मक तरीके खोजे जायें। पश्चिम के वेस्टवुड मिडिल स्कूल के छात्र डेनाबार्टन ने लिखा है कि जब हमारे स्कूल में कोई भी बच्चा पढ़ता नहीं है या नियम तोड़ता है तब उसे टूटा हुआ तीर (कागज का एक संकेतक) मिलता है जिस पर शिक्षक के हस्ताक्षर होते हैं। यदि किसी बच्चे के पास 10 से ज्यादा तीर हो जाते हैं तो वह छात्र हर नौ सप्ताह के बाद होने वाली मनोरंजन और धमाल पार्टी में नहीं जा सकता है।

सजा देना एक किस्म की मानसिकता है और इस मानसिकता को बदलने के लिये हमें अपनी शिक्षा व्यवस्था में उन तरीकों को लागू करना होगा, जिनमें अनुशासन और जिम्मेदार होने का पाठ सिखाने के लिये बच्चों को बेंत से मुलाकात न करना पड़े। मसला शिक्षकों की सीमाओं और क्षमता के दायरे को समझने का भी है। जब बच्चे सवाल पूछते हैं तो जवाब देने के बजाये शिक्षक उन पर झल्ला जाते हैं और कठोर व्यवहार कर देते हैं। इस तरह का व्यवहार उनके सवाल पूछने की प्रवृत्ति को दबा देता है और रचनात्मकता को सीमित करता है। अनुशासनात्मक कार्रवाही और अपराध की सजा में हमें अंतर करना होगा। बच्चों की मानसिकता को समझे बिना उन्हें सजा देकर हम शिक्षित व्यक्ति हासिल नहीं कर सकते हैं। यह सोच इस बात का प्रमाण है कि हम बच्चों के मनोविज्ञान और जरूरतों को महसूस ही नहीं कर पा रहे हैं। हमें मानना चाहिये कि यह मामला महज नीतियों या कानून के जोर से किनारे लगाने वाला नहीं है।

बच्चों पर पड़ने वाले प्रभाव

1. बच्चों का सदमें में जाना एवं शिक्षकों से भयभीत होने लगना ।
2. सीखने की क्षमता कम होना और रचनात्मकता कम होना ।
3. स्कूल से बंक मारने की प्रवृत्ति विकसित होना जिससे वे गलत दिशा में भटक सकते हैं और शोषण के शिकार भी हो सकते हैं ।
4. उनके समग्र व्यक्तित्व पर इसका गहरा प्रभाव पड़ता है और वे स्कूल को नापसंद करने लगते हैं ।